हाशिए पर खड़ा भारत का कामगार वर्ग

डोसियर संख्या 64,
ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संसथान
मई 2023

इस डोसियर में शामिल कलाकृतियाँ भारतीय कलाकार बीरेन्द्र कुमार यादव की हैं। यादव एक बहु-विषयक कलाकार हैं और खनन मजदूरों तथा मूलनिवासियों की मेहनत से बने और लौह अयस्क तथा कोयला के लिये विख्यात धनबाद शहर के हैं। इनका कार्य कोयला खदान में कार्यरत एक लोहार के पुत्र के तौर संजोये गए अनुभवों से प्रभावित है, और वर्ग विभेद तथा कामगार वर्ग के मुद्दों की तरफ ध्यान आकर्षित कराता है।

कवर

बीरेन्द्र कुमार यादव, *नर्क की छत पर चलना*, 2016। खड़ाऊँ।

हाशिए पर खड़ा भारत का कामगार वर्ग

डोसियर संख्या 64 | डोसियर संख्या 64
मई 2023

बीरेन्द्र कुमार यादव, *मिटा दिये गए चेहरे*, 2015। अभिलेखीय प्रिंटों के ऊपर चस्पा ईंट बनाने वाले मजदूरों की तस्वीरों के ऊपर उनके अँगूठों के निशान।

समकालीन भारत में व्याप्त शांति के छद्मावरण को दो चीजों ने तोड़ा है। पहला, कोविड-19 ने भारतीय स्वास्थ्य व्यवस्था की दशकों पुरानी बर्बादी की प्रक्रिया और विज्ञान-सम्मत तथा स्थिर नेतृत्व प्रदान करने की बजाय जनता से थाली बजाने का आह्वान करने वाली केंद्र सरकार की अक्षमता का पर्दाफाश किया है। दूसरा, भारत में खेती के वजूद को खतरे में डालने वाले केंद्र सरकार के तीन कृषि बिलों के खिलाफ किसानों ने महामारी के दौरान एक साल तक आंदोलन किया। किसान आंदोलन को समग्र कामगार वर्ग और मध्यम वर्ग के एक वृहद हिस्से से समर्थन प्राप्त हुआ। इस आंदोलन ने व्यापक जनसमर्थन के बल पर अजेयता के दम्भ में चूर सरकार को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया।

सार्वजनिक विश्वविद्यालयों की लोकतांत्रिक भूमिका को हड़पने की ताक में बैठे थिंक-टैंकों और सरकार की तरफ से प्रतिपादित सिद्धांत वायरस के प्रभाव और किसानों की राजनीतिक ताकत, दोनों का विश्लेषण कर पाने में नाकाम रहे। श्रेष्ठ सिद्धांतों का उनका छद्मावरण तार-तार हो गया और उसके नीचे छिपे उनके असीम लोभ का इतिहास दृश्यमान हो गया। 'श्रम बाजार उदारीकरण' और 'व्यापार का उदारीकरण' जैसे शब्दों ने एक दक्ष, आधुनिक समाज का निर्माण नहीं किया। इसके विपरीत, सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था को दी जाने वाली राशि में दशकों से हो रही कटौती, महामारी के दौरान स्वास्थ्य सेवा प्रदान करने हेतु कम वेतन देकर 'स्वयंसेवकों' के प्रयोग, और निर्वाचित पदाधिकारियों द्वारा अवैज्ञानिक विचारों को बढ़ावा देने के कारण कोविड-19 से हुई मौतों में भारी बढ़ोत्तरी हुई। हालाँकि ये शब्द नवउदारवादी सिद्धांत की पाठ्यपुस्तक से बाहर हो चुके हैं। लेकिन कृषि उत्पाद बाजारों को बड़े कॉर्पोरेशनों, जिनमें से ज्यादातर के सत्ताधारी दल के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध हैं, के हवाले करने के लिए इन्हीं शब्दों के बौद्धिक छद्मावरण का सहारा लिया जाता है।

इस छद्मावरण में पड़ी दरारों ने नवउदारवादी दौर के समाज विरोधी प्रभावों को प्रकाश में लाया। सरकार को मौतों की संख्या पर नियंत्रण पाने का श्रेय

देकर प्रशंसा के पुल बाँधने वाले मीडिया समूहों और धर्म के ठेकदारों की लाख कोशिशों के बाद भी इसे छुपाया नहीं जा सका। भले ही सत्य का यह प्रकाश विपक्षी दलों को चुनावी फायदा दिलाने में[2] नाकाम रहा हो, लेकिन इसने जन-चेतना पर गहरा प्रभाव डाला।

जून 2021 में ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान ने डोजियर संख्या 41, भारत का किसान विद्रोह, में किसान आंदोलन की समीक्षा की। उस डोसियर ने किसानों और भूमिहीन किसानों की दुर्दशा, बढ़ती असामनता और देहातों में विकराल रूप धारण करती गरीबी के लिए जिम्मेदार नवउदारवादी नीतियों का विश्लेषण किया। यह डोसियर, *हाशिए पर खड़ा भारतीय कामगार वर्ग*, भारत के विशाल और विविधता से परिपूर्ण भारतीय कामगार वर्ग की जिंदगी और काम के हालातों का एक विहंगम दृश्य प्रस्तुत करता है।

बीरेन्द्र कुमार यादव, *सरकारी काम भगवान का काम होता है*, 2017। मुंबई कला कक्ष के प्रवेश द्वार पर लगी एलईडी की एक संरचना।

लॉकडाउन

24 मार्च 2020 को, प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने बिना कोई पूर्व सूचना दिए देश के 140 करोड़ लोगों के ऊपर 'सम्पूर्ण लॉकडाउन' थोप दिया। भारत के श्रमबल का ज्यादातर हिस्सा छोटे और मँझोले आकार के व्यवसायों में संलग्न है। छोटे और मँझोले व्यवसायों पर लॉकडाउन की वजह से ताला पड़ गया। गैर-कृषि क्षेत्र में संलग्न 45 प्रतिशत लोगों को काम से हाथ धोना पड़ा। तकरीबन 12 करोड़ लोगों से उनकी रोजी-रोटी छिन गई। काम कराने वालों के ऊपर मजदूरों को पैसे देने की किसी तरह की वैधानिक या नैतिक बाध्यता नहीं थी। बहुत सारे मजदूरों को उनकी बकाया पगार भी नहीं मिली। कई मजदूरों के पास कुछ दिनों के लिए पर्याप्त भोजन तक नहीं था और बहुतों के पास न ही पैसा था और न ही भोजन के लिए राशन। उन सबको शहरों और कस्बों में बसे अपने जर्जर ठिकानों से पलायन करने को मजबूर होना पड़ा। बिना किसी तैयारी के थोपे गए लॉकडाउन के कारण लाखों लोगों के भूखों मरने की संभावना और जनता के दबाव की वजह से सरकार ने 26 मार्च को सहायता राशि जारी करने की घोषणा की। सरकार द्वारा घोषित यह सहायता राशि भारत के सकल घरेलु उत्पाद का एक प्रतिशत भी नहीं थी।

लॉकडाउन ने भारतीय कामगार वर्ग की दयनीय स्थिति को उजागर किया। एक छोटी सी अप्रत्याशित परिघटना ने जनता के एक बड़े तबके को बेघर होने और भुखमरी के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। दूर-दराज के कस्बों और गाँवों से आकर शहरों में काम करने वाले मजदूरों को न तो सरकार से कोई सहायता मिली और न ही समाज से। [1]

करोड़ों असहाय प्रवासी मजदूर कर्फ्यू तोड़कर अपने गाँवों तक की हज़ारों किलोमीटर की दूरी तय करने पैदल ही निकल पड़े। गाँव उनके लिए सिर पर छत, सुरक्षा और एक स्तर की गरिमा के प्रतीक थे। कुछ प्रवासी मजदूर बस

अड्डों और रेलवे स्टेशनों की तरफ बेतहाशा भागे और अन्य पैदल ही अपने घरों की तरफ चलने लगे। लाखों मजदूर ऐसे भी थे जिनके लिए अपने गाँव पहुँच पाना संभव नहीं था। इन प्रवासी मजदूरों को शहरों में ही रुकना पड़ा और अजनबियों की दयालुता पर आश्रित होना पड़ा। कामगार यूनियनों, वामपंथी दलों, नियमित तनख्वाह पाने वाले कर्मचारियों (मुख्यत: बैंक कर्मचारी और इंटरनेट टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में काम करने वाले कर्मचारी), संवेदनशील नागरिकों और अन्य लोगों ने फौरन ही इकट्ठा होकर पलायन कर रहे प्रवासी मजदूरों के लिए भोजन और पानी का प्रबंध करना शुरू कर दिया। उन्होंने इन मजदूरों को घर पहुँचाने के लिए यथासंभव मदद प्रदान की। इस पूरी आपदा के दौरान राज्य का रवैया ढाक के तीन पात सा ही रहा। पुलिस ने अपने घरों की तरफ पलायन कर रहे मजदूरों को राज्यों की सीमाओं पर रोका, वायरस की रोकथाम के नाम पर उनके ऊपर औद्योगिक ब्लीच का छिड़काव किया, उनकी साईकिलों को जब्त किया और कर्फ्यू तोड़ने के आरोप में उनकी पिटाई की। मजदूरों की मदद करने के लिए कोई भी कॉर्पोरेशन सामने नहीं आया। सरकार और कॉर्पोरेशनों, दोनों ने मजदूरों के प्रति क्रूर रवैया अपनाया।

शहरों में कैद करोड़ों मजदूरों को महामारी के दौरान भयावह परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। शहरों की आधी आबादी झुग्गी-झोपड़ियों में रहती है। कामगार तबके के ज्यादातर लोग बदबूदार हवा और गंदगी से बजबजाते झुग्गी-झोपड़ियों वाले इलाकों में रहने को मजबूर हैं। इन ईंट के डब्बों और झोपड़ों की रोशनी से भेंट बिरले ही हो पाती है। दो घरों की दीवारें एक दूसरे से कुछ इंचों के फासले पर खड़ी रहती हैं। संकरे कमरों में ठूँसे हुए लोगों को खुली हवा और निजता अजनबी विचार प्रतीत होते हैं। निम्न आय पर गुजारा करने वाले प्रवासी मजदूर सामान की भाँति सिकुड़कर अपने एक कमरे के ठिकानों के भीतर सिर छुपाते हैं। जल निकासी व्यवस्था से महरूम ज्यादातर झुग्गी-झोपड़ियों में आस-पास की जगहें ही शौचालय बन जाती हैं। इस सामाजिक विभीषिका का वर्णन कर पाना मुश्किल है। टूटे सेप्टिक टैंकों में गिरने वाले मजदूर मैले में डूबकर मर जाते हैं। रसोई के ईंधन का मुख्य स्त्रोत गैस सिलेंडर होता है। सुरक्षा दिशा-निर्देशों को ताक पर रखकर इनकी भराई होती है जिससे इनके फटने से

आए दिन दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। भारी बारिश होने की स्थिति में ये इलाके गंदे नाले में तब्दील हो जाते हैं और उल्टी-दस्त, मलेरिया, डेंगू व तपेदिक जैसी बीमारियाँ आम हो जाती हैं। इन मजदूरों के लिए समस्याओं की लंबी फेहरिस्त में कोरोना महामारी एक नई मेहमान थी। इन तंग घरों में गुत्थम-गुत्था होकर रहने को मजबूर मजदूरों के लिए सामाजिक दूरी बनाकर रहना असंभव था। इनके पास अपने घरों में लाचार पड़े रहकर वायरस के प्रकोप को देखने के अलावा कोई चारा नहीं था। ये मजदूर भारतीय सरकार और उच्च वर्ग के दिमाग और नज़र, दोनों से गायब थे।

कोविड-19 के भीषण प्रकोप को छुपाकर नहीं रखा जा सका। कामगार वर्ग के लोगों और गरीबों की लाशें गंगा नदी में तैरने लगीं। देश भर में श्मशान घाट, श्मशान गृह और कब्रिस्तान लाशों से पटने लगे। यह जग-जाहिर था और इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद थे कि कामगार वर्ग के इलाकों में कोरोना संक्रमण और मृत्यु की दर बहुत ऊँची थी। लेकिन सरकार आँकड़ों को दफन करने में मशगूल रही। सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली की बदहाली की इबारत लिखने और फार्मास्यूटिकल सेक्टर को निजी हाथों में सौंपने वाली सरकार मजदूरों की बजाय 'बाजार' और अरबपतियों की तबियत को दुरुस्त रखने में ज्यादा तल्लीन थी।

भारत में कोविड-19 टीका उत्पादन पर दो कंपनियों का एकाधिकार था। जब महामारी नियंत्रण से बाहर होने लगी तब भी सरकार टीका उत्पादन में बढ़ोत्तरी के उद्देश्य हेतु दक्ष सार्वजनिक कंपनियों को टीका उत्पादन की अनुमति देने में आना-कानी करती रही। एक टीके को सरकारी संस्थानों ने ही विकसित किया था। इस वजह से सार्वजनिक क्षेत्र का उपयोग कर टीका उत्पादन और टीकाकरण के स्तर को आसानी से बढ़ाया जा सकता था। लेकिन जनता के लिए हितकारी यह कदम पूंजी के हित की राह में बाधाएँ पैदा करता। देश के इतिहास के सबसे विकराल स्वास्थ्य संकट में दखल देने की बजाय सरकार हाथ पर हाथ धरे बैठी रही। निजी कंपनियाँ देश के कामगार वर्ग का टीकाकरण करने की अपरिहार्य जरूरत को नजरअंदाज करके बेशुमार मुनाफा कमाती रहीं। एक

कंपनी ने प्रति डोज़ 2,000 प्रतिशत मुनाफा कमाया जबकि दूसरी ने प्रति डोज़ 4,000 प्रतिशत मुफाया अर्जित किया [2]। मार्च 2020 से मार्च 2022 के दौरान, भारत के बड़े व्यवसायों और अरबपतियों ने दोगुना मुनाफा बटोरा [3]।

बीरेन्द्र कुमार यादव, *नियति के मलबे*, 2015। मलबों पर भारतीय स्याही।

नवउदारवाद से पहले के दौर में मजदूर

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के भारत छोड़ने से चार साल पहले, सन् 1944 में, भारतीय पूंजीपतियों के एक समूह ने बॉम्बे प्लान नामक एक दस्तावेज तैयार किया था। इन पूंजीपतियों ने स्वीकार किया कि आजाद भारत में आद्योगिक क्षेत्र को फलने-फूलने के लिए अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा से बचाव और संसाधनों की आवश्यकता पड़ेगी। इस संरक्षणवादी सिद्धांत को 'शिशु उद्योग' सिद्धांत कहा जाता है। बॉम्बे प्लान के आधार पर नवीन भारतीय राज्य ने एक औद्योगिक नीति (1948) विकसित की, योजना आयोग की स्थापना की (1950), पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56) तैयार की, औद्योगिक नीति संकल्प (1956) बनाया, और एकाधिकारी तथा प्रतिबंधकारी व्यापार अधिनियम (1969) पारित किया। निजी क्षेत्र के पूंजीपतियों की दृष्टि के अनुरूप बनी भारत सरकार की नई नीति के तहत कुछ सेक्टरों को निजी क्षेत्र के हवाले करना था और सुनिश्चित करना था कि किसी भी सेक्टर में निजी क्षेत्र के समूह अपना वर्चस्व स्थापित नहीं कर पाएँ। हालाँकि भूमि सुधार अथवा मजदूरों को अधिकार प्रदान करके भारतीय अर्थव्यवस्था का लोकतांत्रीकरण नहीं किया गया। इससे आजादी के शुरूआती वर्षों के दौरान बुर्जुआ वर्ग को खूब लाभ मिला। 1960 में, प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने स्वीकार किया कि उनकी सरकार की नीतियों ने सामाजिक विभेद की खाई को चौड़ा किया है:

> बहुत सारे लोगों को [देश के धन में हुई वृद्धि में] उनका हिस्सा नहीं मिला है और [वो] जीवन की मुख्य जरूरतों से महरूम हैं। दूसरी तरफ धनवानों का एक छोटा समूह मौजूद है। उन्होंने किसी भी तरह से अपने लिए एक धनी समाज की स्थापना कर ली है, हालाँकि पूरे भारत की हकीकत इससे ठीक उल्टी है... मेरे विचार से नवसृजित धन एक खास दिशा में जा रहा है और ठीक से बँट नहीं रहा है [4]।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के निर्माण का मकसद समाजवादी देशों से भिन्न था। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण एक सीमित उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया था, और वह उद्देश्य था निजी क्षेत्र के विकास और संचयन की प्रक्रिया में सहायक की भूमिका अदा करना। भारतीय सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना मुनाफे का अधिकतमीकरण करने के लिए नहीं, बल्कि निजी उद्योगों को एक सतत् पारिस्थितिक तंत्र प्रदान करने के लिए की गई थी। इसीलिए सरकार ने आधारभूत संरचना और भारी मशीनरी तथा इस्पात जैसे सेक्टरों में निवेश किया क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र की अनुपस्थिति में बेहद ऊँची कीमत पर पाश्चात्य देशों से उनका आयात करना पड़ता।

सशक्त मजदूर आंदोलनों ने संघर्षों के बूते पर कामगार यूनियनों का निर्माण किया। इन कामगार यूनियनों ने काम के घंटों, पगार तथा सामूहिक सौदेबाजी से जुड़े कानूनों के अनुपालन और सशक्तिकरण को सुनिश्चित करने तथा अधिकतम मजदूरों को इन कानूनों के दायरे में लाने के लिए हस्तक्षेप किया। तीन प्रमुख कारणों ने सार्वजनिक क्षेत्र के मजदूरों को यह सब हासिल करने के काबिल बनाया। पहला कारण: सार्वजनिक क्षेत्र पूंजी प्रधान था और मजदूर बड़े कारखानों में काम करते थे। इस वजह से हड़तालें ज्यादा नुकसान कर पाने में सक्षम हो पाती थीं। दूसरा कारण: ज्यादातर जनता अशिक्षित और कुपोषित थी। इस वजह से सार्वजनिक क्षेत्र के कुशल मजदूरों का स्थान लेने वाली श्रम की आरक्षित सेना का अभाव था। तीसरा कारण: इन कारखानों में जन्मी संघर्ष और कामगार यूनियन की परंपराओं ने सार्वजनिक क्षेत्र के मजदूरों के भीतर वर्ग चेतना का समुचित विकास किया था। हालाँकि, सार्वजनिक क्षेत्र के पूंजी प्रधान सेक्टर में सीमित होने और कुल श्रमबल में सार्वजनिक क्षेत्र के मजदूरों का हिस्सा काफी छोटा होने की वजह से मजदूरों के एक छोटे तबके के पास ही ये अधिकार थे। इसके बावजूद, सार्वजनिक क्षेत्र के मजदूरों को प्राप्त अधिकारों ने बाकी के कामगार वर्ग के लिए एक मानदण्ड स्थापित किया। बाकी के कामगार वर्ग ने वर्ग चेतना से सराबोर सार्वजनिक क्षेत्र के मजदूरों के साथ मिलकर श्रम कानूनों के दायरों को बढ़ाकर सारे मजदूरों को इनके भीतर शामिल करने के लिए संघर्ष किया।

भारत के 83 प्रतिशत मजदूर अनौपचारिक क्षेत्र में संलग्न हैं। इस तथ्य के आलोक में सभी मजदूरों को श्रम कानूनों के दायरे में शामिल करने का संघर्ष बेहद महत्वपूर्ण है। अनौपचारिक क्षेत्र गृह उद्यमों और अनिश्चित कार्य के अलावा विभिन्न प्रकार के छोटे और अनिगमित उद्यमों से मिलकर बना है। यहाँ तक कि औपचारिक क्षेत्र में भी मिलने वाले रोजगार का एक बड़ा हिस्सा अनौपचारिक है, जैसे कि उपठेकाकरण के तहत होने वाला काम। भारत में कुल मिलाकर 90 प्रतिशत से ज्यादा मजदूरों का रोजगार अनौपचारिक है [5]। इन मजदूरों के लिए कानून और अधिकार मृग मरीचिका के समान हैं। ज्यादातर मजदूरों को मुश्किल से दो वक्त की रोटी मुहैया कराने वाली न्यूनतम मजदूरी भी नसीब नहीं होती। वैधानिक सुरक्षा के अभाव में मजदूरों को दिहाड़ी मजदूरी जैसे अनियमित और मौसमी अनुबंधों के तहत का करना पड़ता है, जिससे ये आय के नियमित स्त्रोतों से महरूम रहते हैं। उदारीकरण से पहले से ही, कार्य के अनौपचारिक और अनियमित होने की वजह से इन मजदूरों के लिए यूनियन बना पाना संभव नहीं रहा है। जिन राज्यों में वामपंथ की सरकार है अथवा रही है, जैसे कि केरल, त्रिपुरा, और पश्चिम बंगाल, सिर्फ उन राज्यों में ही मजदूरों को काम के हालातों को बेहतर बनाने वाले और यूनियन निर्माण को संभव बनाने वाले कानून हासिल हो पाए हैं।

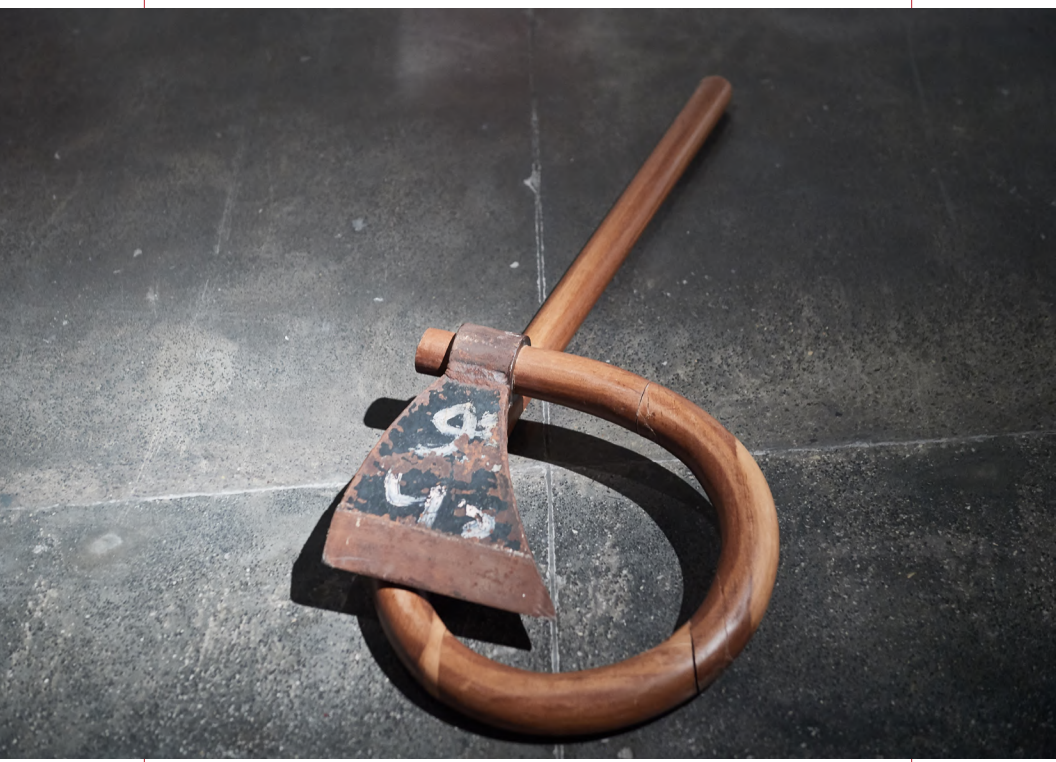

बीरेन्द्र कुमार यादव, *खुद के पैरों पर एक कुल्हाड़ी*, 2015। लोहा और लकड़ी।

1991 के पश्चात श्रम बाजार सुधार

सन् 1991 में, भारत सरकार ने लघुकालीन वित्तीय सहायता प्राप्त करने के एवज में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ अर्थव्यवस्था का उदारीकरण करने का समझौता किया था। इस समझौते के तहत सरकार को श्रम बाजार का उदारीकरण करना था तथा आंशिक रूप से संरक्षित भारतीय अर्थव्यवस्था को विदेशी पूंजी के लिए खोलना था। इस समझौते के साथ ही बॉम्बे योजना का अंत हो गया।

विदेशी पूंजी के लिए भारत सिर्फ अपने विशाल घरेलू बाजार के कारण ही नहीं, अपितु अतिनिम्न मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों का विशाल स्त्रोत होने की वजह से भी एक अति आकर्षक गंतव्य था। आजादी के बाद भी भारतीय मजदूर अतिनिम्न मजदूरी पाकर भुखमरी के हालातों में काम करते रहे। लेकिन आजादी के पश्चात एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया: मजदूरों का एक बड़ा हिस्सा शिक्षित हो गया था। तकनीकी तौर पर कुशल तथा ज्यादा महत्वाकांक्षी कार्यबल 1980 के दशक के दौरान उभरा। सरकार द्वारा व्यावसायिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण में सरकारी निवेश, बच्चों को बेहतर शैक्षिक अवसर प्रदान कराने की प्रतिस्पर्धा और कृषिय परिवर्तन से इसका विस्तार होता रहा। लेकिन, इसके सापेक्ष रोजगार के अवसरों का विस्तार नहीं हुआ। अपर्याप्त मजदूरी पाकर दुनिया में मौजूद काम करने के सबसे खराब हालातों में से एक में काम करने की आदी यह अल्पपोषित श्रम-सेना, साक्षरता और नूतन आकांक्षाओं से परिपूर्ण होकर, उदारीकरण की पूर्व संध्या पर अंतरराष्ट्रीय पूंजी से शोषित होने के लिए तैयार खड़ी थी।

कॉर्पोरेट क्षेत्र ने मजदूरों के खिलाफ जोरदार मीडिया अभियान छेड़ दिया। उन्होंने प्रचारित किया कि मजदूर आलसी तथा अहंकारी थे और वैश्विकरण के नवयुग में 'लचीलेपन' की आवश्यकता थी। बहुत सारे विद्याविद् और नीति संस्थान 'श्रम बाजार में लचीलेपन' की हिमायत करने वाले प्रचार-समूह में शामिल हो गए।

इनका तर्क था कि श्रम को पूंजी की अधीनता में काम करना चाहिए और पूंजी के ऊपर रोजगार और मजदूरी सम्बंधी कानूनों का बंधन नहीं डाला जाना चाहिए। मजदूरी का निर्धारण माँग तथा पूर्ति के सिद्धांत के अनुसार होना चाहिए और पूंजी को मजदूरों को उनका जीवन-यापन करने हेतु पर्याप्त मजदूरी दिए जाने की जिम्मेदारी से मुक्त कर देना चाहिए। ये परिवर्तन मजदूरों के लिए अहितकारी थे। लेकिन उदारीकरण की प्रचारमंडली का कहना था कि, इससे विदेशी निवेश आएगा, जिससे उद्योगों का आम तकनीकी स्तर सुधरेगा और श्रम उत्पादकता में इजाफा होगा। इन सबके परिणामस्वरूप दीर्घकाल में विकास दर और मजदूरी, दोनों में बढ़ोत्तरी होगी।

विकास के इस सुनहरे पथ में दो बाधाएँ थीं: सार्वजनिक क्षेत्र की कामगार यूनियनें, जो 'लचीलेपन' के इस सिद्धांत के खिलाफ लड़ती रहीं, और श्रम कानून। कामगार यूनियनों के संघर्ष का एक जीवंत उदाहरण विशाखापत्तनम स्टील प्लांट में जारी संघर्ष है, जहाँ मजदूर जनता के साथ मिलकर निजीकरण की कोशिशों को एक दशक से धूल चटा रहे हैं [6]। यूनियनों की चुनौतियों का सामना करने के लिए, सरकार ने कारख़ाना दर कारख़ाना यूनियनें कुचलने की बजाए, कानून को अपने पक्ष में बदलते हुए एक व्यापक समाधान की तैयारी की। इसमें सरकार को 1991 के बाद से नवउदारवादी एजेंडे से जुड़ी न्यायपालिका से सहायता प्राप्त हुई। उदारीकरण के शुरुआती वर्षों में, सुप्रीम कोर्ट ने फैसला सुनाया कि एयर इंडिया के अनुबंध कर्मचारी कुछ मामलों में स्थायी कर्मचारी बन सकते हैं। लेकिन 2001 में, स्टील अथॉरिटी ऑफ इंडिया और अन्य सार्वजनिक क्षेत्र की फर्मों द्वारा की गई एक अपील के बाद अदालत ने इस फैसले को उलट दिया, जिससे दशकों के संघर्ष के माध्यम से श्रमिकों ने जो लाभ कमाया था, वह निष्प्रभावी हो गया। ठेका श्रमिकों पर यह हमला हड़तालों पर प्रतिबंध लगाने के प्रयास जैसे अन्य औद्योगिक विवादों के साथ हुआ। फिर, 6 अगस्त 2003 को, सुप्रीम कोर्ट ने तमिलनाडु राज्य सरकार द्वारा 170,000 कर्मचारियों को 'अवैध हड़ताल' में भाग लेने हेतु बर्खास्त किए जाने के पक्ष में फैसला सुनाया। सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि अगर श्रमिक बिना शर्त माफी माँग लेते हैं, तब ही सरकार उन्हें फिर से काम पर रखेगी। यह ध्यान देने योग्य है कि सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि

'[सरकारी कर्मचारियों] के पास हड़ताल पर जाने का कोई मौलिक, कानूनी, या न्यायसंगत अधिकार होने का कोई सवाल ही नहीं है', और ट्रेड यूनियनों के पास 'प्रभावी सामूहिक सौदेबाजी या हड़ताल करने का कोई गारंटीकृत अधिकार' नहीं है और 'कोई भी राजनीतिक दल या संगठन यह दावा नहीं कर सकता है कि वह पूरे राज्य में उद्योग और वाणिज्य को अप्रभावी बनाने का हक रखता है या वह उनके दृष्टिकोण के साथ सहानुभूति न रखने वाले नागरिकों को अपने मौलिक अधिकारों का प्रयोग करने या अपने स्वयं के लाभ अथवा राज्य व राष्ट्र के लाभ के लिए अपने कर्तव्यों का पालन करने से रोक सकता है" [7]। यह निर्णय न केवल भारतीय कानूनों के विरुद्ध था बल्कि इसने अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के उन सम्मेलनों का भी उल्लंघन किया जिन पर भारत सरकार ने उससे पहले हस्ताक्षर किए थे।

पिछले कुछ दशकों के दौरान, श्रमिकों और प्रबंधन के बीच के विवादों व सामूहिक रूप से विरोध करने तथा हड़ताल पर जाने के श्रमिक वर्ग के अधिकार के प्रति उच्च न्यायपालिका के दृष्टिकोण में बदलाव आया है – यह बदलाव बाजार के सिद्धांतों और अनुबंध की पवित्रता के पक्ष में है। न्यायपालिका के विचारों ने पूंजी को श्रमिकों के खिलाफ एक क्रूर अभियान खोलने की अनुमति दी है, हालाँकि यह श्रमिकों को लड़ने से रोक नहीं पाया है। मानेसर (हरियाणा) में मारुति सुजुकी कारखाने और होसकोटे (कर्नाटक) में वोल्वो बस के कारखाने में मजदूरों के संघर्ष व गुजरात की आंगनवाड़ी कार्यकर्त्रियों और पंजाब की आशा कार्यकर्त्रियों के संघर्ष इसका उदाहरण हैं। मजदूरों के यूनियन बनाने के प्रयासों को हालाँकि आपराधिक कारवाई माना जाता है। जैसा कि मारुति सुजुकी के प्रबंधन कार्यकारी अधिकारी एस वाई सिद्दीकी ने जून 2011 में कहा था, 'मानेसर की समस्या औद्योगिक संबंधों की समस्या नहीं है। यह अपराध और उग्रवाद का मुद्दा है'। इसके अलावा 'यूनियन की किसी भी बाहरी संबद्धता को [फर्म द्वारा] बर्दाश्त नहीं किया जाएगा' कहते हुए सिद्दीकी ने संघबद्ध श्रमिकों को चेतावनी दी थी कि शुरुआती संघर्ष को जारी रखने के लिए राष्ट्रीय श्रमिक यूनियनों के बीच राजनीतिक सहयोगी खोजने के किसी भी प्रयास के बदले कंपनी सख़्त कारवाई करेगी [8]। लगातार जारी श्रमिक संघर्षों के बीच, सरकार ने श्रमिकों को

गिरफ्तार करने और हड़ताल करने के उनके अधिकार को अवरुद्ध करने के लिए आतंकवाद विरोधी कानून का इस्तेमाल शुरू किया है। उदाहरण के लिए, 2017 में जब रिलायंस एनर्जी के ठेका श्रमिकों ने संघ बनाया और एक श्रमिक की मौत के मुआवजे की मांग को लेकर कुछ घंटों के लिए हड़ताल की, तो उनमें से पांच को आतंकवाद के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया [9]। इसके अलावा, उत्तरी भारत के गुड़गांव-मानेसर-धारूहेड़ा-रेवाड़ी खंड में यूनियन नेताओं के खिलाफ होने वाली हिंसा दक्षिण भारत के कोयम्बटूर-चेन्नई बेल्ट में भी दिखाई देती है। इन दोनों क्षेत्रों में मौजूद हिंसा की अंतर्निहित प्रवृत्ति से उपजी औद्योगिक कारवाईयों के परिणामस्वरूप मजदूरों की जानें गई हैं। जैसे कि 2012 में मारुति सुजुकी संयंत्र में अवनीश कुमार देव की हत्या हुई और 2009 में कोयम्बटूर (तमिलनाडु) में प्रिकोल लिमिटेड के मजदूर रॉय जॉर्ज की हत्या हुई। 2009 में, कोयम्बटूर में हड़तालों के दौर के बाद, ऑटोमोटिव कंपोनेंट मैन्युफैक्चरर्स एसोसिएशन ऑफ इंडिया के अध्यक्ष जयंत डावर ने स्पष्ट रूप से कहा था कि: 'हम समाजवादी श्रम कानूनों वाला पूंजीवादी देश नहीं हो सकते' [10]। 'श्रम बाजार में लचीलेपन' के समर्थकों ने तर्क दिया था कि इससे विदेशी पूंजी आकर्षित होगी और श्रम उत्पादकता व आर्थिक विकास बढ़ेगा। इसके लागू होने के दशकों बाद आँकड़े उस सिद्धांत के विपरीत खड़े हैं। ये आँकड़े बताते हैं कि विकास धीमा हो गया है और रोजगार घटे हैं। पूर्णकालिक, औपचारिक रोजगारों में विशेष गिरावट आई है क्योंकि कार्यबल उत्तरोत्तर न्यूनतम विनियामक निरीक्षण और न्यूनतम लाभ प्रदान करने वाले लघुकालिक अनुबंधों के तहत काम कर रहा है। बिगड़ती कामकाजी परिस्थितियों के कारण, मुनाफे और मजदूरी के हिस्से में एक बड़ी खाई बन गई है: 1999-2000 से 2018 के दौरान, मुनाफे का हिस्सा 17 प्रतिशत से बढ़कर 48 प्रतिशत हो गया था, जबकि मजदूरी का हिस्सा 33 प्रतिशत से घटकर 26 प्रतिशत हो गया था [11]। मुनाफा अब राष्ट्रीय हित बन गया है, और संघर्षरत कर्मचारी आतंकवादी माने जाते हैं।

विभाजनकारी श्रम प्रथाओं ने निजी उद्योगों की कामगार यूनियनों का विनाश कर दिया है और सार्वजनिक उद्योगों की यूनियनों के लिए मुश्किलें खड़ी कर दी हैं। इससे औपचारिक तथा ठेका मजदूरों के बीच शोषणकारी विभेद पैदा हुआ है।

यह विभेद अतिशोषित सेक्टरों के ऊपर गंभीर प्रभाव डालता है और कारखानों में साथ काम कर रहे मजदूरों के बीच वैमनस्य के बीज बोता है। मुख्य रूप से मजदूरी पर केंद्रित संघर्ष, असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर, श्रमिकों को एक साथ लामबंद नहीं कर सकते।

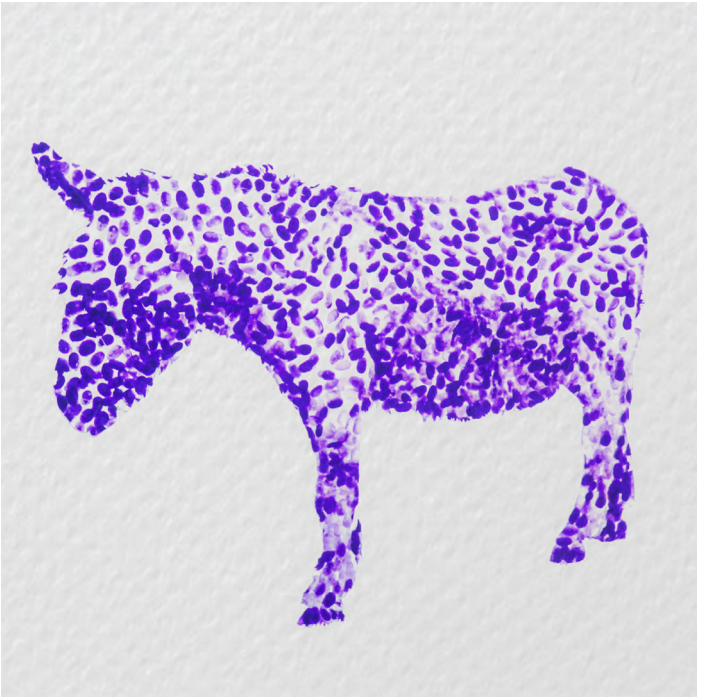

बीरेन्द्र कुमार यादव, *गधा मजदूर*, 2015। कागज पर प्रवासी मजदूरों के अँगूठों की छाप।

हताशा के मकड़जाल में कामगार वर्ग

नवउदारवादी व्यवस्था द्वारा सृजित रोजगारों की प्रकृति ही हताश जनता का शोषण करने वाली होती है। बड़े पैमाने पर औद्योगिक निवेश और उच्च गुणवत्ता वाले औद्योगिक रोजगारों के सृजन के वादे पूरे नहीं हुए। आर्थिक और औद्योगिक विकास निम्न स्तर पर बने रहे हैं। इसका कारण सिर्फ निवेश का अभाव ही नहीं, बल्कि भारतीय जनता की माँग के स्तर को दबाकर रखा जाना भी है। भारत के ज्यादातर लोगों को बेहद कम मजदूरी मिलती है और नवउदारवादी प्रतिबंधों के कारण सरकारी व्यय, विशेषकर कृषिय सेक्टर में, बेहद कम है। ये दोनों कारण भारतीय जनता की माँग के स्तर को नीचा रखते हैं।

भारत में 1991 के पश्चात हुए आर्थिक विकास को दो अहम दौरों में विभाजित किया जा सकता है। गौरतलब है कि आर्थिक विकास के इन दोनों महत्वपूर्ण दौरों को संभव बनाने में 'श्रम बाजार सुधारों' तथा नवउदारवादी नीतियों की कोई भूमिका नहीं रही। पहला दौर सन् 2003 से सन् 2008 का है। इस दौर में संयुक्त राज्य अमेरिका के उपभोक्ताओं की कर्ज-चालित माँग के सकारात्मक प्रभावों ने भारतीय आर्थिक विकास को मदद पहुँचाई। दूसरा दौर सन् 2009 में शुरू हुआ और सन् 2011 में खत्म हुआ। दूसरे दौर में आधारभूत ढ़ाँचे, जैसे कि ऊर्जा संयंत्र और सड़क इत्यादि के निर्माण के लिए भारतीय कंपनियों ने सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों से अकूत राशि उधार ली और कालांतर में इस ऋण का एक बड़ा हिस्सा सरकारी बैंकों को चुकाया नहीं गया। भारतीय कंपनियों के कर्ज-चालित व्यय ने दूसरे दौर में आर्थिक विकास को गति प्रदान की। इस तरह के बुलबुले लंबे समय तक नहीं टिकते। अमेरिकी उपभोक्ताओं की माँग सपाट हो गई है, और चूँकि माँग कम होने के कारण भारतीय कंपनियाँ भी निवेश पर खर्च नहीं करना चाहती हैं, इसलिए भारतीय उद्योग अपनी क्षमता से बेहद नीचे स्तर पर काम रहा है। निजी समूहों ने सार्वजनिक बैंकों से कर्ज लेना जारी रखा तो है, लेकिन वो इस रकम को रोजगार सृजन की बजाय अधिग्रहणों पर खर्च कर रहे हैं।

सार्वजनिक बैंकों से अकूत कर्ज हासिल करने वाले इन विशाल निजी समूहों ने भारत के कार्यबल के 2 प्रतिशत हिस्से और गैर-कृषिय कार्यबल के 5 प्रतिशत हिस्से से ज्यादा को कभी रोजगार नहीं दिया है [12]। भारत के ज्यादातर मजदूरों को लघु उपक्रमों से रोजगार मिलता है। इन लघु उपक्रमों की स्थिति विशाल निजी समूहों से ठीक विपरीत है। कर्ज की कमी से जूझते इन लघु उपक्रमों में मजदूरी पर आने वाली लागत इनके संचालन की लागत का एक बड़ा हिस्सा होती है। इनकी उत्पादन की प्रक्रिया में निम्न मूल्य संवर्धन होता है। इनके मुनाफे का स्तर कम होता है और ये पूंजी के अभाव से ग्रसित रहते हैं। इन लघु और बिखरे हुए उपक्रमों की बाजार शक्ति क्षीण होती है, जिस कारण ये सार्वजनिक संसाधन पाने हेतु आवश्यक राजनीतिक समर्थन जुटाने में असमर्थ होते हैं। इस हालत में, इन लघु उपक्रमों के पास लाभ तथा पूंजी संचयन के लिए एक ही उपाय बचता है - मजदूरों को निचोड़ना। इन सेक्टरों में होने वाले काम का विनियमन नहीं होता। इन मजदूरों के पास औपचारिक क्षेत्र में संलग्न मजदूरों की तुलना में नगण्य अधिकार होते हैं और उन्हें अल्प मजदूरी देकर ज्यादा काम करने के लिए विवश किया जाता है। बाजार में अस्थिरता आने पर, जैसा कि कोविड-19 महामारी के दौरान हुआ, इन उपक्रमों का वजूद तक समाप्त हो जाता है। सस्ते श्रम पर आश्रित होने के कारण उनके द्वारा मजदूरों के काम के हालातों में सुधार लाने की संभावना नगण्य होती है। इसलिए, महामारी जैसी आपातकाल स्थिति में इनके मजदूरों को राज्य की प्रत्यक्ष मदद की आवश्यकता होती है।

अनौपचारिक क्षेत्र मुख्यत: लघु व्यवसायों द्वारा नियोजित या 'स्वनियोजित', सेवा सेक्टरों में संलग्न विभिन्न प्रकार के मजदूरों से मिलकर बना है। दुकानों और भोजनालयों जैसे बहुत से लघु व्यवसाय छोटी संख्या में मजदूरों को काम पर रखते हैं और इनको दिहाड़ी के अनुसार काम और मजदूरी देते हैं। अनौपचारिक क्षेत्र में संलग्न मजदूरों का एक प्रमुख हिस्सा सीधा उपभोक्ताओं को अपनी श्रम शक्ति बेचता है। इस श्रेणी में ऑटो चालक, घरेलू कामगार, इलेक्ट्रीशियन, ढुलाई करने वाले मजदूर, सफाई कर्मचारी, मिस्त्री, प्लंबर, रिक्शा चालक, कूड़ा बीनने वाले, सड़क की सफाई करने वाले, और सुरक्षा कर्मचारी जैसे मजदूर आते हैं। इनमें से ज्यादातर के पास न तो कोई नियोक्ता होता है और न ही एक स्थायी

काम। ये मजदूर एक साथ कई काम करते हैं। इनमें से बहुत सारे मजदूरों को काम के लिए शहरों और देहातों के बीच विस्थापन की लहर की मानिंद चलना पड़ता है। ये फसलों की कटाई और बुवाई के मौसम में अपने खेतों में अथवा खेतिहर मजदूर के तौर पर काम करने के लिए अपने गाँव जाते हैं। ये वर्तमान भारत के घुमक्कड़ मजदूर हैं [13] । सड़कों के वृहद जाल के निर्माण ने हताश मजदूरों के अंतहीन आवागमन को संभव बना दिया। इससे शहरी तथा ग्रामीण, दोनों के अनौपचारिक क्षेत्र के लिए श्रम की एक विशाल आरक्षित सेना का निर्माण हुआ। मोबाईल नेटवर्क के विस्तार और सस्ते मोबाईल फोनों की उपलब्धता ने इन अनौपचारिक मजदूरों के लिए मजदूरों की भर्ती करने वाले ठेकेदारों या दलालों और अपने परिवार तथा दोस्तों के साथ लगातार संपर्क में रहना संभव बना दिया। परिवार के लोगों और दोस्तों से इन्हें दिहाड़ी अथवा मौसमी रोजगार के बारे में जानकारी पाना सुलभ हो गया। ये मजदूर ग्रामीण भारत की सबसे ज्यादा शोषित और कमजोर जातियों से ताल्लुक रखते हैं। इनमें से बहुत सारे मजदूर रोजगार की तलाश में कृषिय मौसम के अनुसार देश भर में भटकते हैं, जबकि दूसरे निर्माण कार्य परियोजनाओं के पीछे दूर-दराज के शहरों तक जाते हैं। ये प्रवासी मजदूर खेत या निर्माण स्थलों के किनारे पुरानी साड़ियों और प्लास्टिक की चादरों से बनी अस्थाई झोपड़ियों में रहते हैं। खुले आसमान के नीचे बने इन अस्थाई बसेरों में अक्सर रसोई घर तथा शौचालय तक की सुविधा नहीं होती। इनके बच्चे या तो मलबे के ढ़ेर पर खेलते हैं या फिर सीढ़ियों पर भारी बोझ लेकर चढ़ रही अथवा खेतों में काम कर रही माताएँ इनको अपनी पीठ पर टाँगे फिरती हैं। प्रवासी मजदूरों द्वारा पैदा किया गया अनाज उनकी थाली में नहीं जाता है। उनके हाथों बने घरों में उनका बसेरा नहीं होता है। वो काम करते हैं, और काम खत्म होने के बाद काम की खोज में एक नए अस्थाई ठिकाने की तरफ रवाना हो जाते हैं।

प्रवास परिवारों, और खासकर पीढ़ियों के बीच दूरी बढ़ाता है। यह समुदायों के जवान और सबल तबके को काम की तलाश में ऐसे दूर-दराज के इलाकों तक ले जाता है जहाँ उनके भविष्य की सुरक्षा अनिश्चित होती है। जवानी में दिहाड़ी मजदूरी करने वाले वृद्ध महिलाओं और पुरुषों को भीख माँगते या असमय काल

के गाल में समाते देखना दुर्लभ बात नहीं है क्योंकि मुख्यत: निजी स्वास्थ्य सेवा हासिल कर पाना उनके सामर्थ्य के बाहर होता है। स्वास्थ्य सेवा के कारण पड़ने वाला वित्तीय बोझ हर साल करीब 5.5 करोड़ भारतीयों को गरीब बना देता है [14] । इसके अतिरिक्त, भारतीय पेंशन प्रणाली खस्ताहाल अवस्था में है। पेंशन अनियमित रूप से मिलती है और पेंशन की रकम जीवन निर्वाह के लिए नाकाफी होती है (बहुतों को 200 रुपये प्रतिमाह पेंशन मिलती है) [15] ।

देश भर में सड़कों के प्रसार के साथ औद्योगीकरण में क्षेत्रीय असामनता भी बढ़ी। ज्यादातर औद्योगिक उत्पादन प्रायद्वीपीय भारत और खनन क्षेत्रों में केंद्रित रहा। यहाँ आधारभूत संरचनाएँ अन्य क्षेत्रों की तुलना में विकसित थीं और निजी पूंजी भी इधर ही आती रही। प्रवासी मजदूर लंबी दूरी तय करके इन अनजान भाषाओं और संस्कृतियों वाली जगहों पर जाकर अपना अस्थाई बसेरा डालते हैं। इस अलगाव की वजह से ये अपने शोषण, ऊँची मजदूरी और काम करने तथा रहने के बेहतर हालातों जैसे मुद्दों के लिए सामाजिक समर्थन जुटा पाने में अक्सर असमर्थ रहते हैं। पत्रकार सिद्धार्थ देब लिखते हैं, 'यह एक ऐसी व्यवस्था है जो नियोक्ताओं के लिए हर तरह से मुफ़ीद है। इसमें असुरक्षा और अलगाव से घिरे मजदूर अपने हालातों और मजदूरी के लिए संगठित संघर्ष छेड़ने में असमर्थ होते हैं। दूर के क्षेत्रों से आने वाले इन लोगों में वोट माँगने वाले स्थानीय नेताओं की कोई रुचि नहीं होती। भाषा और संस्कृति की भिन्नता उनके और स्थानीय लोगों के बीच अलगाव की दीवार खड़ी करती है। [16] ' अलगाव की ये दीवारें क्षेत्र और भाषा के आधार पर जन्मे परस्पर विरोधी अंधे अहंकारों का बारुद तैयार कर रहीं हैं।

छोटे आकार के कारण छोटे व्यवसायों और औद्योगिक कंपनियों की लागत बड़े समूहों की तुलना में ज्यादा होती है, जिससे उनके लिए बड़े समूहों से प्रतिस्पर्धा करना चुनौतीपूर्ण होता है। इनकी तत्कालीन चुनौतियों के ऊपर से आई भारत सरकार की नोटबंदी योजना और माल एवं सेवा कर (जीएसटी) ने इनकी कमर तोड़ कर रख दी [17] । 2016 में, नोटबंदी योजना के तहत सरकार ने अर्थव्यवस्था में मौजूद 86 प्रतिशत नकदी को वापस ले लिया। लेनदेन के

लिए नकदी पर निर्भर छोटे व्यवसायों को नोटबंदी ने भारी नुकसान पहुँचाया। जीएसटी ने छोटे व्यवसायों की अनुपालन पर आने वाली लागत बढ़ाकर उनका वित्तीय बोझ बढ़ा दिया। इसके विपरीत, जीएसटी के आने से बड़ी कंपनियों के लिए विभिन्न राज्यों के दरम्यान व्यापार करना आसान बन गया। इन दो कारणों ने बहुत सारे छोटे व्यवसायों का नाश कर दिया, जिससे बहुत सारे मजदूरों से रोजगार छिन गया। छोटे व्यवसायों के बंद होने से बड़े समूहों को अपना प्रसार करने का अवसर मिला। भारतीय मजदूरों पर उपलब्ध आँकड़े विश्वसनीय नहीं हैं। आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार बेरोजगारी दर 8 प्रतिशत है। लेकिन कुछ अनुमानों के अनुसार वास्तविक बेरोजगारी दर आधिकारिक आँकड़ों से काफी ऊँची है। कार्य भागीदारी दर बेहद कम, 40 प्रतिशत के करीब, है। एक औसत मजदूर की मासिक आय 10,000 रुपये है, जो कि न्यूनतम मजदूरी से भी कम है [18]। 1.4 अरब की कुल जनसंख्या में 41 करोड़ मजदूर हैं, जिसके अनुसार हर भारतीय मजदूर के कंधों पर 3.5 लोगों के जीवन निर्वाह की जिम्मेदारी है। उन्हें यह जिम्मेदारी न्यूनतम मजदूरी से भी कम आय अर्जित कर निभानी है [19]।

बीरेन्द्र कुमार यादव, *मई दिवस*, 2022। कागज पर लोहा, लकड़ी और चारकोल।

मजदूरों का विद्रोह

मजदूरों अथवा यूनियनों ने वर्ग संघर्ष का आविष्कार नहीं किया। पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग संघर्ष जिंदगी की हकीकत होती है। पूंजीपति मजदूर की श्रम शक्ति को खरीदकर, उसका यथासंभव उत्पादक और दक्ष प्रयोग करके, मजदूर की उत्पादकता से अर्जित लाभ अपने लिए रख लेता है। काम के बाद मजदूर को उसकी झुग्गी में दफा कर दिया जाता है। काम करने के बाद मजदूर की रात भी अगले दिन काम करने की ऊर्जा जुटाने की जुगत में गुजरती है। मजदूरों के ऊपर ज्यादा उत्पादक होने और अपनी उत्पादकता के फल को पूंजीपति के हवाले कर देने का यह दबाव ही वर्ग संघर्ष का मूल तत्व है। जब मजदूर अपने श्रम के पैदावार का ज्यादा हिस्सा माँगता है तो पूंजीपति उसकी नहीं सुनता है। हड़ताल करने की ताकत मजदूरों को आवाज प्रदान करके उनके लिए वर्ग संघर्ष का मार्ग प्रशस्त करती है।

1990 के दशक के उत्तरार्ध के बाद से भारतीय कामगार यूनियनें लगभग हर वर्ष उदारवाद के खिलाफ मिलकर हड़ताल कर रही हैं। सन् 2022 में हुई इस हड़लात में तकरीबन बीस करोड़ मजदूर शामिल हुए [20]। मजदूरों की इतनी बड़ी संख्या, जिनमें से ज्यादातर अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत थे, इस हड़ताल में कैसे शामिल हो पाई? पिछले दो दशकों के दौरान, अनौपचारिक मजदूरों (मुख्यत: देखभाल सेक्टर की महिला मजदूरों) की अगुवाई में हुए संघर्षों के परिणामस्वरूप, कामगार यूनियनों ने अनौपचारिक मजदूरों के मुद्दों को समग्र कामगार वर्ग के मुद्दों के रूप में उठाना शुरू कर दिया है। कार्यावधि का स्थायीकरण, समुचित वेतन अनुबंध, महिला मजदूरों की गरिमा इत्यादि जैसे मुद्दों के लिए हुए संघर्षों ने मजदूरों के सभी तबकों के बीच मजबूत एकता कायम की है। इन एकताबद्ध मजदूरों के लड़ाकूपन को कामगार यूनियन के ढ़ाँचों की संगठित ताकत में ढ़ाला जा रहा है। इसी तरह, महिला मजदूर खुद से जुड़े मुद्दों को सिर्फ महिलाओं के

मुद्दों के तौर पर नहीं देखती हैं, अपितु ऐसे मुद्दों के तौर पर देखती हैं जिसके लिए हर मजदूर को लड़ना चाहिए और जीत हासिल करनी चाहिए। मजदूरों को नस्ल, जाति और अन्य सामाजिक भेदों के आधार पर प्रभावित करने वाले मुद्दों को लेकर भी ऐसा ही नजरिया विकसित हो रहा है। इसके अलावा, कामगार यूनियनें सामाजिक जिंदगी और सामाजिक कल्याण से जुड़े मुद्दों को भी उठा रहीं हैं और पानी, जलनिकासी और बच्चों की शिक्षा के अधिकार के पक्ष में, और विभिन्न तरह की असहिष्णुताओं के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद कर रहीं हैं। ये सामाजिक संघर्ष मजदूरों और किसानों की जिंदगी का एक अटूट अंग हैं।

इसके साथ-ही-साथ, भारतीय समाज में, जिसमें कामगार वर्ग के तबके भी शामिल हैं, दक्षिणपंथी विचारों – जिनको हिंदुत्व की विचारधारा (हिंदू श्रेष्ठतावादियों की मूल विचारधारा) परिलक्षित करती है - ने अपनी जड़ें गहरी करनी शुरू कर दी हैं। दक्षिणपंथ को नवउदारवादी पूंजीवाद द्वारा जनित सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों, जैसे कि शहरी क्षेत्रों में मजदूरों द्वारा महसूस की जाने वाली अदृश्यता और विच्छेद का भाव, रोजमर्रा की जिंदगी में मिलने वाला अपमान, परिवारों से दूर रहने वाले पुरुषों में अलगाव और विषाक्त समाजीकरण का अंकुरण, धार्मिक सभाओं में प्राप्त होने वाली सांत्वना और समुदाय तथा अस्मिता की तलाश आदि ने उर्वर भूमि प्रदान की है। देश में धर्मनिरपेक्ष तथा तर्कसंगत विचारधाराओं के ह्रास और कामगार वर्ग के आंदोलनों की संकीर्णता की स्थिति में इसका मुकाबला करने के लिए कोई महत्वपूर्ण ताकत मौजूद नहीं है।

हिंदुत्व और हिंदू राष्ट्र (राम राज्य) के नशे में धुत्त होकर कामगार वर्ग अपने ही वर्ग से ताल्लुक रखने वाले दूसरे धर्मों और जातियों के लोगों को अपनी दुर्दशा तथा अपमान की आग का कोपभाजन बना रहा है और भातृहंता के माध्यम से सशक्तिकरण का आभास कर रहा है। यह कामगार वर्ग को अपने ईशारों पर नचाने का नव-फासीवादी नुस्खा है। क्षेत्रीय राष्ट्रीयताओं की मौजूदगी, खासकर दक्षिण भारत में, नव-फासीवादी एजेंडे को उसकी संपूर्णता में देश भर में लागू होने से रोक रही है। इस तरह के नव-फासीवादी एजेंडे के खिलाफ मजदूरों और किसानों

के प्रतिरोध की संभावना किसान आंदोलन के दौरान तब दिखी जब बृहत्काय पूंजी के खिलाफ सीधी लड़ाई के लिए किसान मैदान में उतर गए।

महामारी ने कामगार वर्ग और पूंजी के हितों के बीच मौजूद असंगति पर प्रकाश डाला। कामगार वर्ग का हित सार्वजनिक निवेश, रोजगार सृजन, कामगार के कल्याण हेतु आवश्यक धनराशि जुटाने के लिए कॉर्पोरेशनों के ऊपर टैक्स लगाने, और छोटे उद्योगों तथा कृषि के विकास में निहित है। कामगार वर्ग की संरचना और संगठित मजदूरों के अपर्याप्त संख्याबल के परिप्रेक्ष्य में, पूंजी के खिलाफ टकराव तभी सफल होगा जब यह कारखानों की दीवारों और मजदूरी के मोलभाव के दायरे से बाहर निकलकर राज्य को राजनीतिक तौर पर विवश करेगा। कामगार वर्ग आंदोलन के वामपंथ को भान है कि इसका अनुपालन कितना कठिन कार्य है। इसके बावजूद, महामारी समाज के सामने मौजूद विरोधाभासों को धुँधला करने वाले पूंजी के विचारधारात्मक और मीडिया तंत्र का मुकाबला करते हुए मजदूरों की वर्ग चेतना को सशक्त बनाने का मौका लेकर आई है।

अगस्त 1992 में, बॉम्बे के कपड़ा मजदूर अपने अंतर्वस्त्र पहनकर सड़कों पर उतर गए और घोषणा की कि नया आदेश उनको गरीबी के दलदल में धकेल देगा। उनकी प्रतीकात्मक भंगिमा इक्कीसवीं सदी के भारतीय मजदूरों की हकीकत को प्रतिबंबित करती है: पूंजी की बढ़ती शक्ति के बावजूद उन्होंने अपने हथियार नहीं डाले हैं। उनका वर्ग संघर्ष जिंदगी से लबरेज़ है।

बीरेन्द्र कुमार यादव, *ज़िंदगी के औजार*, 2021। कागज पर चारकोल और पैस्टल।

Notes

1 For more, see Tricontinental: Institute for Social Research, CoronaShock: A Virus and the World, dossier no. 28, 5 May 2020, https://thetricontinental.org/dossier-28-coronavirus/.

2 R. Ramakumar, 'State Governments Can Purchase Only 25% of Vaccines – Belying Centre's Claim of Equitable Policy', Scroll.in, 11 May 2021, https://scroll.in/article/994606/state-governments-can-purchase-only-25-of-vaccines-belying-centres-claim-of-equitable-policy.

3 Mahesh Vyas, 'Record Profits by Listed Companies', Centre for Monitoring Indian Economy, 31 May 2022, https://www.cmie.com/kommon/bin/sr.php?kall=warticle&dt=20220531171446&msec=206.

4 Government of India, Problems of the Third Plan: A Critical Miscellany (New Delhi: Ministry of Information and Broadcasting, 1961), 49–50. http://14.139.60.153/bitstream/123456789/9268/1/PROBLEMS%20IN%20THE%20THIRD%20PLAN%20A%20CRITICAL%20MISCELLANY-VB_PCL-49232.pdf

5 Government of India, Periodic Labour Force Survey (New Delhi: Ministry of Statistics and Programme Implementation, July 2020 – June 2021).

6 Tricontinental: Institute for Social Research, The People's Steel Plant and the Fight Against Privatisation in Visakhapatnam, dossier no. 55, 23 August 2022, https://thetricontinental.org/dossier-55-visakhapatnam-steel-plant/.

7 T. K. Rangarajan v. Government of Tamil Nadu & Others, Case no.: Appeal (civil) 5556 of 2003 (New Delhi, 6 August 2003), https://main.sci.gov.in/judgment/judis/19215.pdf, 5.

8 Vijay Prashad, No Free Left: The Futures of Indian Communism (New Delhi: LeftWord Books, 2015), 218.

9 Jyoti Punwani, 'How 5 Reliance Workers Fighting for a Better Deal Found Themselves in Jail on TerrorismCharges', Article 14, 29 July 2021, https://article-14.com/post/how-5-reliance-workers-fighting-for-a-better-deal-found-themselves-in-jail-on-terrorism-charges-61020ec49f652.

10 Peter Wonacott, 'Deadly Labour Wars Hinder India's Rise', Wall Street Journal, 24 November 2009, https://www.wsj.com/articles/SB125858061728954325

11 Subodh Varma, 'Modi's Rule Is Boosting Profits, Squeezing Wages', NewsClick, 24 September 2018, https://www.newsclick.in/modis-rule-boosting-profits-squeezing-wages.

12 Government of India, Periodic Labour Force Survey (PLFS)– Annual Report (New Delhi: Ministry of Statistics and Programme Implementation, July 2020 – June 2021).

13 Jan Breman, Footloose Labour: Working in India's Informal Economy (Cambridge: Cambridge University Press, 1996).

14 Taran Deol, 'India's Persistently High out-of-Pocket Health Expenditure Continues to Push People into Poverty', Down to Earth, 22 September 2022, https://www.downtoearth.org.in/news/health/india-s-persistently-high-out-of-pocket-health-expenditure-continues-to-push-people-into-poverty-85070.

15 Express News Service, '14 States Give Rs 500 or Less as Pension, Says Report', The Indian Express, 29 September 2018, https://indianexpress.com/article/india/14-states-give-rs-500-or-less-as-pension-says-report-5378783/.

16 Siddhartha Deb, The Beautiful and the Damned: A Portrait of the New India (New York: Faber and Faber, 2011), 170.

17 Shruti Srivastava and Archana Chaudhary, 'Amidst the Digital Push, GST Transition Will Be Painful for SMEs', The Economic Times, 23 May 2017, https://ecoti.in/hR_02a.

18 Mrinalini Jha and Amit Basole, 'Labour Incomes in India: A Comparison of PLFS and CMIE-CPHS Data' (CSE Working Paper no. 46, Centre for Sustainable Employment, Azim Premji University, Bengaluru, February 2022), https://cse.azimpremjiuniversity.edu.in/wp-content/uploads/2022/02/Jha_Basole_PLFS_CPHS_Labour_Incomes.pdf.

19 Mahesh Vyas, 'Employment and Unemployment Rise in December', Centre for Monitoring Indian Economy, 2 January 2023.

20 Peoples Dispatch, 'Millions Strike in India Against Modi Government's Policies', Peoples Dispatch, 30 March 2022, https://peoplesdispatch.org/2022/03/30/millions-strike-in-india-against-modi-governments-policies/.

Attribution-NonCommercial 4.0 International (CC BY-NC 4.0)

This publication is issued under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International (CC BY-NC 4.0) license. The human-readable summary of the license is available at https://creativecommons.org/licenses/by-nc/4.0/.

Tricontinental: Institute for Social Research
is an international, movement-driven institution focused on stimulating intellectual debate that serves people's aspirations.
www.thetricontinental.org

Instituto Tricontinental de Investigación Social
es una institución promovida por los movimientos, dedicada a estimular el debate intelectual al servicio de las aspiraciones del pueblo.
www.eltricontinental.org

Instituto Tricontinental de Pesquisa Social
é uma instituição internacional, organizada por movimentos, com foco em estimular o debate intelectual para o serviço das aspirações do povo.
www.otricontinental.org